मार्क्स के धर्मविषयक विचार की समीक्षा

डॉ. हरवंशलाल ओबराय

सम्पादक एवं संकलनकर्ता
स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास
खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व
खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान
खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता
खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम,
भक्तानन्द शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- श्री सुशील कुमार ताम्बी
  प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
  A/3 आर्य नगर
  एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
  मुरलीपुरा, जयपुर 302039
  फोन : 0141-2233765 मो. : 09829547773
- **ज्ञान गंगा प्रकाशन**
  पाथेय भवन,
  बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
  दूरभाष : 0141-2371563
- **अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना**
  आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
  नई दिल्ली 110055
  फोन : 011-23675667
- **हिन्दू राइटर्स फोरम**
  129-बी, डी.डी.ए. फ्लैट्स (एम.आई.जी.)
  राजौरी गार्डन, नई दिल्ली 110027
- **जागृति प्रकाशन**
  श्री कृष्णानन्द सागर
  एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
  फोन : 0120-2538101 मो. : 09871143768

ISBN 978-93-84133-10-8

प्रथम संस्करण : 2015 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : बीस रुपये मात्र

आवरण : गौरीशंकर आचार्य

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

Marks Ke Dharm Vishayak Vichar Ki Smiksha (Hindi)
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 20

प्रकाशकीय

मार्क्स ने यूरोप में पोप की पाप एवं पाखण्ड लीला का बड़ा घृणित रूप देखा और इतिहास से जाना। इसलिये उसे ईसाई अंधविश्वासों के प्रति घृणा हो गई। इसलिये एक समाज सुधारक के नाते उसे उसका विरोध करना पड़ा वह उचित ही था। उसे वेद, गीता और उपनिषदों के विश्वकल्याणकारी धर्म का ज्ञान ही नहीं था। उसे केवल पंथों का ही परिचय प्राप्त हुआ। धर्म जैसे विश्वव्यापी लोकतान्त्रिक एवं तर्कसम्मत कर्तव्य विधान का परिचय प्राप्त नहीं हुआ। अतः कार्लमार्क्स ने जो धर्म की आलोचना की, समीक्षा की वह सेमिटिक परम्परा पर विशेषकर इसलाम एवं ईसाइयत पर लागू है, सनातन हिन्दू धर्म, वैदिक धर्म, आर्य धर्म पर नहीं।

इसमें डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र खण्ड चार से सामग्री संकलित है। हर बार की तरह सांखला प्रिण्टर्स का प्रिंटिंग कार्य में सौहार्दपूर्ण सहयोग एवं परमपूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद से यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि
सम्पादक व संकलनकर्ता
मो. 09413769139

अनुक्रम

मार्क्स के धर्मविषयक विचार की समीक्षा

आधुनिक भारत के युवा मानस पर पाश्चात्य विचारधारा का पंचमुखी प्रहार हुआ है। जो ऊपर से देखने पर दिखाई नहीं देता, किन्तु गम्भीरता और सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है—

(क) पशुता का आक्रमण—भारत के ऋषियों ने 'अमृतस्य पुत्राः' अमृत पुत्र कहा है। किन्तु चार्ल्स डार्विन ने घोषणा की कि मनुष्य भगवान् का नहीं पशुओं—बंदर, लंगूर आदि की संतान है। इस प्रकार मानव पशु संतति होने के कारण उसकी पशुता को मानवता का पूर्वज होने का गौरव मिल गया। भारत में विज्ञान के नाम पर यही स्कूलों-कॉलेजों में पढ़ाया गया। तब युवा मानस पर यही छाप पड़ी कि हम अमृतस्य पुत्राः न होकर वानरस्य पुत्राः हैं। इससे मानव मन की पशुता जाग उठी।

(ख) नग्नता का आक्रमण—पश्चिम के साहित्यकारों D.H. Lorens, Pope, Dryden, Keats, Byron आदि ने कहा कि जब हम मूलतः पशु ही हैं तो पशु अपनी पशु लीला पर सभ्यता का कोई आवरण नहीं डालते। तो हमें भी किसी पर्दे की आवश्यकता नहीं है। जो क्रियाकलाप हैं उसका नग्न रूप से वर्णन किया जाय। इससे पश्चिमी साहित्य में नग्नतावाद का बोलबाला हो गया। Keats की Lost Sonate इतनी अश्लील है कि पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों लज्जा से संकुचित हो जाते हैं। D.H. Lorens के नॉवलों (उपन्यासों) की आजकल पुस्तक की दुकान पर धूम है। क्रिस्टीन किलर काण्ड तथा नंगे नॉवल खूब बिकते हैं। नग्नता का यह हमला फिल्मों में भी आया, नाचघरों में भी आ गया, कैबरे नृत्य होने लगे, चित्रों-कैलेण्डरों में भी आ गया है। नग्न चित्र खूब बिकने लगे हैं। धीरे-धीरे धार्मिक चित्रों में भी नग्नता बढ़ने लगी। फैशन में, वेश-भूषा में नग्नता आने से वस्त्र छोटे और नग्न अंगों का प्रदर्शन अधिक होने लगा। अमेरीका में टोपलेस का फैशन चला। चित्रकला मूर्तिकला में भी नग्नता आ गई। Nude क्लब का चलन बढ़ने लगा। भारत में भी रजनीश ने नग्न नर-नारियों के सम्मेलन करवाए। भारत के युवा मानस पर इस नग्नता के हमले ने इतना भीषण आघात किया है कि गुण्डों

को अपनी गुण्डाई में लज्जा ही नहीं रही। 50 प्रतिशत से अधिक युवा छात्र-छात्रा फिल्मी हीरो या चरित्रभ्रष्ट अभिनेत्रियों को अपना आदर्श मानने लगे हैं।

(ग) कामुकता का आक्रमण—फ्रॉयड ने कहा कि कामवासना ही एकमात्र जीवनप्रवृत्ति है। इसके विपरीत जो कुछ है वह मृत्युप्रवृत्त death instinct है। फ्रॉयड सब प्रवृत्तियों के पीछे कामप्रवृत्ति का ही दर्शन करता है। वह माता-पुत्र, पिता-पुत्री और भाई-बहन के प्रेम को भी कामवासना ही मानता है। इसका मत है कि हर बच्चे के अचेतन मन में एक प्रवृत्ति सुप्त रहती है जिसे Odipus complex कहते हैं। Odipus नाम का यूनानी योद्धा था जिसने न जानते हुए अपने पिता को मारकर उसी की रानी से विवाह किया। भेद खुलने पर Odipus ने अपनी आंखें फोड़ ली और रानी ने आत्महत्या कर ली। फ्रॉयड का मत है कि हर बच्चे के मन में माता के प्रति प्रेम के पीछे यही प्रवृत्ति सोयी पड़ी रहती है। वह पिता को निरस्त कर अपनी माता से काम तृप्ति चाहता है। इस प्रकार फ्रॉयड ने बहन-भाई और माता-पुत्र के पवित्र प्रेम को भी कामुकता के चश्मे से देखकर सारी मानवता को मां और बहन की गाली निकाल दी। किन्तु इसी फ्रॉयड को विज्ञान के नाम पर जब भारतीय युवा मानस को पढ़ाया जाता है तो छात्रों के मन पर निर्बन्ध कामुकता का आक्रमण होता है। डार्विन द्वारा आध्यात्मिकता का निराकरण हो जाने पर केवल पशुता बची। पशुता द्वारा सभ्यता का पर्दा फट जाने पर नग्नता आ जाती है। और नग्नता द्वारा नैतिकता और मर्यादा का बंधन टूट जाने पर कामुकता आ जाती है।

(घ) आर्थिकता का आक्रमण—पशुता, नग्नता और कामुकता के भोगवादी आक्रमणों को भौतिक साधनों का पूर्ण सहयोग देने के लिए कार्लमार्क्स ने मानव मन पर आर्थिकता का आक्रमण किया। काम और अर्थ मिलकर भोगवाद की लीला पूरी कर देते हैं। काम द्वारा जिन सुखों की कामना की जाती है वह सुख-साधन अर्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थ के आधिक्य से ऐश्वर्य की इच्छा पैदा होती है जिससे कामुकता का खेल नग्न रूप से होने लगता है। कामुकता अर्थ की अपेक्षा रखती है और आर्थिकता कामुकता को बढ़ावा देती है। एक कंचन और कामिनी दोनों माया के छलीरूप भोगविलास के माध्यम हैं। आर्थिकता के हमले से युवा मानस के मन पर ये संस्कार पड़ा कि अर्थ ही जीवन का सारतत्त्व है और जीवत्व अध्यात्म, नैतिकता, सभ्यता, धर्म, राजनीति सभी कुछ अर्थ के ही अधीन है। इस आर्थिकता के आक्रमण ने मानव मन के स्वार्थ को जगा दिया और मनुष्य अर्थ के लिए धर्म, नैतिकता, देशहित, स्वजन-सम्बन्धी सभी कुछ को बेचने के लिए उद्यत हो गया। अर्थ को सर्वोपरि मानने से अर्थ-प्राप्ति के सब साधन नैतिक-अनैतिक, भ्रष्ट एवं निन्दित मार्ग सभी उचित बन गए।

(ङ) ऐतिहासिकता का आक्रमण—विदेशियों ने भारत को सदा पराधीन, पददलित रखने के लिए इतिहास के नाम पर भारतीय युवा मन को यह कुसंस्कार का विष पिलाना शुरू किया कि आर्य लोग भारत के मूल निवासी नहीं थे। वे मध्य एशिया के मैदानों से आक्रान्ता बनकर भारत में आए। वेद गड़रिये के गीत हैं और वैदिक ऋषि गड़रिये हैं जो भेड़ों के झुण्ड को चराते हुए नई सबल घास की खोज में भारत में आ धमके। भारत का संस्कारक्षम युवा मानस इन बातों को इतिहास के नाम पर प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में पढ़ता रहा, परीक्षा के लिए याद करता रहा। जिससे उसके मानस पर यही विपरीत संस्कार दृढ़ीभूत हुआ और वह स्वाभिमान-शून्य आज का युवा मानस पश्चिमी विचारधारा के इस पंचमुखी आक्रमण से बहुत बुरी तरह क्षत-विक्षत हुआ पड़ा है।

कार्लमार्क्स—कार्लमार्क्स यहूदी जाति के व्यक्ति थे जिनका जर्मनी में जन्म 1818 ई. में हुआ। इनके दार्शनिक सिद्धान्त का नाम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इसके अनुसार सृष्टि की अन्तिम सत्ता जड़ पदार्थ या भूत (Matter) ही है। किन्तु जहां जड़ में अपने आप कोई गति नहीं हो सकती वहां मार्क्स जड़ में द्वन्द्वात्मक पद्धति से गति का स्थान बनाता है। जो कुछ जल या थल पर विद्यमान है वह किसी न किसी प्रकार की गति से ही सम्भव है। द्वन्द्वात्मक पद्धति यह है कि प्रत्येक वस्तु एक वाद (Thesis) के रूप में प्रकट होती है। फिर उस वाद के समस्त दोषों को प्रकट करने वाला एक विरोधी विचार प्रतिवाद सामने आता है—Antithesis फिर वाद एवं प्रतिवाद के परस्पर संघर्ष द्वारा एक समन्वय विचार सामने आता है, जिसे सम्वाद कह सकते हैं। फिर इस सम्वाद (Synthesis) का सम् (Syn) हटा देने से शेष वाद (Thesis) ही बनता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक पूर्ण सत्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती।
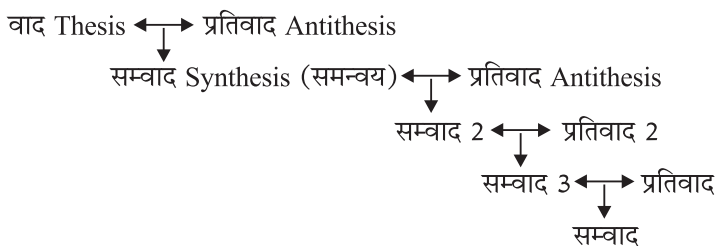
इस द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति का अन्त पूर्ण सत्य में होगा।

कार्लमार्क्स के गुरु जर्मन दार्शनिक हीगेल थे जिनका सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद था। इसके अनुसार वाद, प्रतिवाद एवं सम्वाद की प्रक्रिया द्वारा विचार करते-करते हम अन्त में परम सत्य को पा लेते हैं। मार्क्स ने अपने गुरु

हीगेल को सर के बल पर उलटा खड़ा कर दिया है। मार्क्स ने हीगेल से द्वन्द्वात्मक पद्धति तो ली किन्तु उनका अध्यात्म तत्त्व नहीं लिया।

मार्क्स का कथन है कि जड़-पदार्थ ही अन्तिम सत्य है। मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्व नियम और फूयरबर्ग के जड़ नियम का समन्वय किया। मार्क्स ने आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, कर्म सिद्धान्त सभी को मिथ्या ढकोसला कहा है। मार्क्स ने अपने नए दर्शन को अर्थवाद और समाजवाद के लिए प्रयोग किया। अतः इसे समाजवाद या वैज्ञानिक समाजवाद भी नाम दिया गया है।

मार्क्स का मत है कि अर्थ ही सब सामाजिक व्यवस्थाओं और सामाजिक संघर्षों का मूल कारण है। समाज में दो वर्ग हैं धनी और निर्धन। धनी निर्धनों का शोषण कर ही धनी बने हैं। यह पूँजीपति वर्ग है। दूसरे निर्धन या सर्वहारा वर्ग के लोग हैं जो बहुत समय से शोषण एवं अभाव के शिकार रहे हैं। जब तक इन दो वर्गों में भेद रहेगा तब तक संघर्ष चलता ही रहेगा। यह वर्गसंघर्ष समाजवाद की स्थापना के लिए अनिवार्य है। चूंकि निर्धन अभाव व शोषण एवं अन्याय के शिकार रहे हैं इसलिए उन्हें यह पूरा अधिकार है कि वे धनिकों के धन एवं परिवार को लूटें। इसे ही क्रान्ति कहते हैं।

रक्त क्रान्ति—अनिवार्य रूप से क्रान्ति रक्तिम ही होनी चाहिए। ऐसा मार्क्स का कथन है। Force in midwife that attends on a Society Pregnant with a new Social Order. रक्तपात एक दाई है जो किसी समाज के गर्भ में छिपी हुई नयी सामाजिक व्यवस्था के जन्म में सहायक होती है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति—मार्क्स व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी अनुचित मानता है। उसका मत है कि सभी सम्पत्ति पूरे समाज Commune की होनी चाहिए। व्यक्तिगत सम्पत्ति से धनी-निर्धन का भेद बना रहता है।

व्यक्तिगत परिवार—मार्क्स के मत में व्यक्तिगत परिवार व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान मानव के अहंकार का पोषण करने वाला है। अतः व्यक्तिगत परिवार भी नष्ट होना चाहिए। ऐसे Commune बनने चाहिए जिनमें सब स्त्रियां समाज की, सब पुरुष समाज के और इनसे पैदा होने वाले सब बच्चे भी समाज के माने जाय। जिस प्रकार गरीबों को अमीरों की धन-सम्पत्ति को लूटने का अधिकार है उसी प्रकार उन्हें अमीरों के परिवारों को भी लूटने का अधिकार है। वे अधिक धन से बड़े आदमी बन गए हैं और बड़े परिवारों में सम्बन्ध करके वे निर्धनजनों को छोटा मानकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं तथा अपना अहंकार प्रदर्शन करते हैं।

अध्यात्म—मार्क्स जड़वादी या भौतिकवादी दार्शनिक हैं, अध्यात्मवादी नही। अध्यात्मवाद का कथन है कि आत्मा ही परम सत्य है। इसके विपरीत

जड़वाद मानता है कि जड़ पदार्थ ही परम सत्य है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। किन्तु आत्मा का शाब्दिक अर्थ 'मैं' है अतः अध्यात्मवाद का शाब्दिक अर्थ बन जाता है मैं का दर्शन। प्रो. रामजी सिंह ने अपने एक लेख में मार्क्स और अध्यात्म में यह नयी व्याख्या प्रस्तुत की है कि मार्क्स को मानव के मैं (स्वाभिमान) का उन्नायक होने के कारण मानव के अहम् का नया दर्शन प्रस्तुत करने वाला अध्यात्मवादी माना जा सकता है। वह गरीब मजदूर को सारी उम्र नौकरी करने वाला मिल का नौकर न रहकर मिल का मालिक बना देना चाहता है। वह निर्धन को धनी, अपने भाग्य का निर्माता, राज्य का स्वामी बनाना चाहता है। वह कार्य के लिए जनता को ईश्वर की कृपा का मुहताज न रखकर स्वयं सृष्टि को अपने अनुरूप बदल देने वाला बनाना चाहता है। वह मानव को ईश्वर के सामने सदा भिक्षा मांगने वाला न छोड़कर स्वयं ईश्वर (स्वामी) बनाना चाहता है। इसलिए मार्क्स का नये प्रकार का अध्यात्म है जो परम्परागत अध्यात्म से भिन्न है।

वास्तव में यदि जड़वाद को भी अध्यात्मवाद मान लिया जाय तो उन दोनों शब्दों की अभी तक प्रचलित परिभाषा ही बदलनी पड़ेगी। जड़ (अचेतन) की अन्तिम सत्ता मानने वाला सिद्धान्त जड़वाद और चेतन की अन्तिम सत्ता मानने वाला सिद्धान्त अध्यात्मवाद कहलाता है। यही सर्वमान्य परिभाषा है। यदि परिभाषा ही बदल दी जाय तो सारा शास्त्रार्थ ही अनर्गल हो जाता है।

मार्क्स और ईश्वर—मार्क्स ईश्वरवाद का कट्टर विरोधी था। कुछ लोग अध्यात्मवाद और ईश्वरवाद को समानार्थक मानते हैं। किन्तु वास्तव में अध्यात्मवाद ईश्वरवाद से अधिक व्यापक विचारधारा है। अधिकांश धर्म ईश्वरवाद पर टिके हैं। किन्तु, दार्शनिक विचारधाराएं या तो ईश्वर को आत्म रूप में स्वीकार करती है या आत्मा को ही परमात्मा कहकर समझती है या ईश्वर शब्द को निरर्थक मानकर केवल आत्मा की ही व्याख्या करती है और मार्क्स जैसे जड़वादी न आत्मा को, न जीवात्मा को, न परमात्मा को मानते हैं। वे केवल जड़ पदार्थ को ही परम सत्य मानते हैं। जैन एवं बौद्ध दर्शन ईश्वरवादी नहीं हैं। किन्तु वे अध्यात्मवादी अवश्य हैं। मार्क्स न अध्यात्मवादी हैं, न ईश्वरवादी हैं, न कर्मवादी और न परलोकवादी। उसके मत में ईश्वर एक ऐसी काल्पनिक सत्ता का नाम है जो मनुष्य की अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति का, उसके अभावों की पूर्ति का प्रतीक है। मानव जो कुछ बनना चाहता है, जो सद्गुण प्राप्त करना चाहता है और जो उसके जीवन के आदर्श हैं उन्हीं को अपने से पृथक् एक अन्य विभूति मानकर उसे पूजने लग जाता है। इससे उसके जीवन में एक अन्यता (परायापन) का भाव आ जाता है। फयूरबर्ग ने भी धर्म के इस रूप की कड़ी आलोचना की थी जिसका प्रभाव मार्क्स पर पड़ा। फयूरबर्ग का कथन है कि इस लोक में रहकर भी मनुष्य की

आँखें परलोक की ओर लगी रहनी चाहिए। यह सिद्धान्त मनुष्य में व्यक्तित्व में अपराग की भावना पैदा कर देता है। मनुष्य अपने आपको संसार में मुसाफिर या अजनबी समझने लगता है। उदाहरण—**रहना नहीं देश विराना है (कबीर)**। इस आत्मविराग ने मनुष्य को भूतल से प्यार नहीं करने दिया। वरन् स्वर्ग की कामना में ही मनुष्य का सारा ध्यान लगा रहा। ईश्वर की धारणा का मूल संसार को बंधन रूप में समझना है और संसार के बंधन से मुक्ति को ही भगवान् मान लेना है। वह यह भूल जाता है वास्तव में वह संकल्प कर रहा था कि यदि मनुष्य सर्वज्ञ हो जाय तो उसका कैसा स्वरूप होगा। अपने ही आदर्श को अपने से अलग मानकर उससे भयभीत रहकर उसको पूजना यह मानव की दुर्बलता है। फयूरबर्ग ईश्वर को पुनः मनुष्य के रूप में रूपान्तरित कर दे तब मनुष्य को बोध हो जायगा कि उसने ईश्वर को बनाया था। वह फिर अपने स्वरूप को पहचान जाएगा और उसे धर्म की आवश्यकता नहीं रहेगी। फयूरबर्ग पुनः कहता है ईश्वर लोगों से मैत्री करने के बजाय मानव का मित्र बना दूं, श्रद्धालु के स्थान पर विचारक बना दूं।

फिर फयूरबर्ग के विचारों में मार्क्स के साम्यवाद के बीज छुपे हुए हैं। किन्तु जहां फयूरबर्ग संसार को धार्मिक और पार्थिव दो भागों में विभाजित कर देते हैं वहां मार्क्स उनसे सहमत नहीं है। फयूरबर्ग सारे धार्मिक जगत् को परिवर्तित कर उसके आधार को इहलौकिक बना देते हैं। इसकी तुलना में मार्क्स इहलोक को ही सब कुछ समझता है। मनुष्य जिन-जिन गुणों का अर्जन करना चाहता है उन जीवनमूल्यों का आकार भगवान् बनकर मनुष्य के सामने एक प्रेरणा का सम्बल बन जाता है। यदि आदर्शों को इस लोक में प्राप्त करके योग्य बना दिया जाय तो स्वर्ग आदि की सारी गुत्थी सुलझ सकती है। मार्क्स के शब्दों में—यह पता लग जाने के पश्चात् कि स्वर्ग के परिवार का रहस्य पृथ्वी के परिवार में निहित है कोई व्यक्ति स्वर्ग को सिद्धान्ततः तथा व्यवहारतः ध्वस्त करने के लिए कदम उठा सकता है। वे पुनः कहते हैं कि समाज के प्राप्तव्यों की पूर्ति हो जाने पर धर्म की आवश्यकता नहीं रहेगी। मनुष्य जब तक स्वयं देवता नहीं बन जाता तब तक देवताओं की आवश्यकता होती है तथा उसके सामने गिड़गिड़ाकर वंदना किया करता है, अंधविश्वास तथा मूर्ति पूजा के कारण मनुष्य अपने आपको पतित बनाता है। इसलिए भगवान् में आस्था न रखने वाला व्यक्ति ही सम्मानित व्यक्ति हो सकता है। मानवता के सार से वंचित होकर मनुष्य भगवान् को पूजता है। यदि मानवता का सार उसे प्राप्त हो जाय, मनुष्य में मानवता भर दी जाय तो मनुष्य स्वयं भगवान् हो जाएगा। उसे पता लग जाएगा कि मानवता से परे कोई भगवान् नहीं है। इसलिए धर्म अपने आप नष्ट हो जाएगा।

मार्क्स का कथन है कि धर्म के द्वारा भ्रम तो वास्तविकता बन जाता है और वास्तविकता भ्रम बन जाती है। काल्पनिक ईश्वर को सत् मान लेता है और

सत् जगत् को मिथ्या। इस प्रकार धर्म जनता के लिए अफीम है क्योंकि वह उसे काल्पनिक सुख में फंसाये रखता है जो वास्तविक सुख के लिए संघर्ष करने से रोकता है। पूर्व जन्मों का फल मानकर निर्धनता में कष्ट भोगते हुए संतोष मान लेना, इस जन्म के कर्मों में शोषण और अन्याय के अत्याचारों को यह मानकर सहते रहना कि इनका फल भगवान् अगले जन्म में देंगे। भगवान् के दरबार में देर है किन्तु अंधेर नहीं। ईश्वर न्यायकारी है, वह स्वयं देखता है। अत्याचारी को वही दण्ड देगा। हमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य को अकर्मण्य एवं क्रान्तिविरोधी, प्रतिगामी एवं ईश्वर के नाम पर अत्याचार-सहिष्णु बना देता है इसलिए ईश्वर का निराकरण और धर्म का खण्डन अत्यावश्यक है।

मार्क्स के मत में धर्म मनुष्य को कर्मशील न बनाकर अकर्मण्य एवं स्वप्नदर्शी बना देता है। वह यह मानने लगता है सब कुछ भगवान् ही करता है। इसलिए मुझे करने की क्या आवश्यकता है। मलुकदास के शब्दों में—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।।

कबीर के शब्दों में—

कुछ लेना न देना मगन रहना......

धर्म-विश्वासी को समाज में जिन-जिन मूल्यों का अभाव प्रतीत होता है वह उन्हीं मूल्यों का एक आदर्श कल्पित कर लेता है और उसे ईश्वर कहता है। जैसे भूखा व्यक्ति रोटी के सपने लेता है उसी प्रकार समाज में अन्याय, अत्याचार, प्रेम, समता का अभाव देखने वाला व्यक्ति एक न्यायकारी, समतावादी, प्रेममूर्ति ईश्वर के सपने लेता रहता है। वह कर्म से दूर हो सपने लेता रहता है। वह कर्म से दूर और स्वप्नों में मसरूफ (लगा हुआ) रहता है।

धर्म मनुष्य को अपने ही मस्तिष्क की कल्पना से पराभूत किए रहता है। यानी कल्पना भी हमारी और बंदी भी हम उसी के हो गए। मार्क्स के शब्दों में जैसे धर्म के क्षेत्र में मनुष्य अपने ही मस्तिष्क से उत्पन्न कल्पित आदर्श द्वारा पराभूत रहता है। उसी प्रकार पूँजीवादी उत्पादन में वह अपने हाथों द्वारा उत्पादित की गई वस्तुओं मिलों, फैक्टरियों, शस्त्रों एवं पूँजी से पराभूत रहता है। धर्म के क्षेत्र में जिस ईश्वर से वह डरता है उसको उसने स्वयं अपनी कल्पना से उत्पन्न किया है। आर्थिक क्षेत्र में मजदूर ही अन्न भण्डार, खाद्य भण्डार, वस्तु भण्डार, शस्त्र का एवं धन के भण्डार का उत्पादन करता है। किन्तु उसका स्वामित्व पूँजीपति के हाथ में सौंप देता है। जब वह शोषण के विरुद्ध अपने अधिकारों के लिए वर्गसंघर्ष के लिए नारा लगाता है तब उस अधभूखे, अधनंगे मजदूर पर उसी के हाथ से

उत्पादित धन एवं शस्त्र द्वारा आक्रमण किया जाता है। इस प्रकार जो पूँजी अपने हाथ से निर्माण की वह उसके विरुद्ध ही प्रयोग होने लगी। जब तक ये पूँजीवादी उलटी अर्थव्यवस्था रहेगी तब तक मनुष्य अपने द्वारा कल्पित भगवान् से भी पराया बना रहेगा और अपने द्वारा उत्पादित पूँजी से भी स्वयं वंचित एवं प्रताड़ित होता रहेगा। समाज में उसे अन्याय, अत्याचार, शोषण, विषमता एवं दुःख मिलेगा और कोई चालाक धर्मोपदेशक उसे धर्म की नशे की गोली खिलाकर एक ऐसे कल्पित ईश्वर का स्वरूप दिखाएगा जहां अभाव, अन्याय, विषमता, दुःख नहीं रहेगा। और मानव नए-नए भगवानों की कल्पना में फंसता रहेगा। इसलिए जब तक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है तब तक धर्म का कल्पनाप्रसूत आडम्बर फैला रहेगा और धर्म का काल्पनिक स्वप्नमय जगत् गरीब मजदूर को इस लोक में समानता के लिए क्रान्ति करने नहीं देगा। इस प्रकार पूँजीवाद और धर्मवाद दोनों एक-दूसरे के सहायक एवं पूरक बने हुए फलते-फूलते रहते हैं। मुख्य समस्या आर्थिक है। अर्थ धर्म को चलाता है और धर्म अर्थ के क्षेत्र में मनुष्य को मिथ्या संतोषी बनाकर क्रान्ति से रोके रखता है। इसलिए समाजवाद लाने के लिए धर्म के ऊपर तोप का गोला लगाना अनिवार्य है। जब मनुष्य अपने सामर्थ्य को पहचान लेता है तब धार्मिक अंधविश्वास के बादल छंट जाते हैं। विज्ञान और अन्य शास्त्रों के विकास के साथ ही अंधविश्वास की शृंखलायें टूटती जाती हैं। धर्म के नशे से होश में लाने के लिए जनता को शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान की चटनी खिलानी चाहिए।

धर्म तर्कबुद्धि का प्रतिद्वन्द्वी है, अंधविश्वास पर टिका है। धर्म मतिभ्रम का परिचायक है। आभासों की पूजा, अंधविश्वास और हठधर्मिता इसके लक्षण हैं। मार्क्स ने यूरोप के इतिहास में पोप की पाप एवं पाखण्ड लीला देखी और इतिहास से जानी थी। इसलिए उसे ईसाई अंधविश्वासों के प्रति घृणा हो गई।

धर्म इतिहास का अनादर करता है। धार्मिक व्यक्ति इतिहास की सारी प्रगति को प्रभु कृपा कहकर मानव के पुरुषार्थ एवं तर्कबुद्धि का निरादर करता है। यदि मनुष्य ऐतिहासिक घटनाओं को प्रभु कृपा कहकर छोड़ देगा तो उसे कभी नहीं पता चल सकेगा कि कौन-से तत्त्व मानव प्रगति में साधक और कौन-से बाधक हैं। ऐसा व्यक्ति इतिहास में परिवर्तन या इतिहास निर्माण कैसे कर सकता है? वह सदा ही दबा हुआ इतिहास की मार खाता रहेगा।

धर्म मानव के स्वाभिमान का निरादर है। धर्म मानव को स्वाभिमान, स्वावलम्बन तथा गरिमा से वंचित कर देता है। मनुष्य में दासभाव उत्पन्न हो जाता है। उसमें क्रान्ति का बीज मर जाता है। धार्मिक कथाओं में दुःखद एवं करुणामय दृश्यों को सुनकर भक्त आंसू तो बहाते हैं, परन्तु जिन परिस्थितियों से दुःख आया उनको बदलने के लिए कुछ प्रयास नहीं करते। पादरी कहता है—धन्य हैं वे लोग

जो गरीब हैं क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हें ही मिलेगा। बेचारे भोले-भाले निर्धन लोग गरीबी में ही रचते-पचते स्वर्ग की आस लगाए सारा जीवन एड़ियां रगड़-रगड़ कर काट देते हैं, किन्तु उन परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष नहीं करते जिनके कारण उनकी दैन्यावस्था है। इसलिए मार्क्स कहता है यह तो जनता के लिए अफीम है, जनता की काल्पनिक खुशी के रूप में जो धर्म है उसको समाप्त करना ही जनता की वास्तविक खुशी के लिए आवश्यक है।

धर्म भीरु एवं परावलम्बी बनाता है। धर्म के नाम पर जो कुछ दान या सहायता दी जाती है उससे मानव में आत्मविश्वास पैदा नहीं होता। वह भगवान् के दलालों की दया पर रहने लगता है। मार्क्स के शब्दों में ईसाइयत के सामाजिक सिद्धान्त भीरुता, अपने आप से घृणा, दासभाव सिखाते हैं, जबकि सर्वहारा के लिए दिन-प्रतिदिन की रोटी की अपेक्षा उसका साहस, आत्मविश्वास, अपना स्वाभिमान, स्वावलम्बन की भावना अधिक आवश्यक है। मार्क्स का आग्रह है कि केवल अपनी महानता की अनुभूति ही किसी समाज का रूप बदलकर उसको स्वतंत्र मनुष्यों के समुदाय में बदल सकती है। यदि मानव को बोध हो जाए कि अपने भाग्य का अन्धकार मिटाने के लिए उसे स्वयं ही चांद-सितारों से रोशनी छीननी पड़ेगी। इसी पुरुषार्थ में उसकी गरिमा है तो वह दैव का सहारा छोड़ देगा।

धर्म पाखण्ड का पोषण करता है। अधिकांश धार्मिक लोगों की कथनी-करनी में बड़ा अन्तर होता है। वह बाहर से पानी का प्रचार करते हैं और अन्दर से शराब पीते हैं। गरीबों को गरीब रहने का उपदेश दिया जाता है। किन्तु आदर-सत्कार धनिकों को दिया जाता है। धनी संगमरमर के मन्दिर, गिरजाघर, सोने-चांदी के पालने एवं पूजा पीठ बनाते हैं, बढ़िया भोग-चढ़ावा चढ़ाते हैं। भगवान् और भगवान् के दलालों को प्रसन्न रखते हैं। पोप एवं पण्डे भी ऐसे धर्मध्वजी, पाखण्डी-पापी पैसे वालों को दानवीर कहकर सम्मान देते हैं।

धर्म व्यवसाय बन जाता है। मार्क्स ने ईसाइयत का उपहास करते हुए कहा है चर्च ऑफ इंग्लैंड अपने 39 अवतरणों में से 38 पर प्रहार करने वालों को तो क्षमा कर देगा किन्तु अपनी आय के 1/39 भाग पर प्रहार करने वालों को कभी क्षमा नहीं करेगा। धर्म के नाम पर कमाई के धंधे और दुकानें चलाई जाती हैं। पैसे वालों को धर्मात्मा एवं धर्मवीर, दानवीर गिना जाता है। चर्चों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा भी इस कारण से होती है क्योंकि प्रत्येक चर्च अपने चढ़ावे एवं दान से प्राप्त आय को बढ़ाने के लिए संघर्षशील रहता है। अतः ईसाइयत का ही प्रचार करने वाले दूसरे चर्च आर्थिक स्पर्धा से उसे वैरी प्रतीत होते हैं। ईसाइयत एवं इस्लाम दोनों अंधविश्वासी पंथ होने के कारण मार्क्स की आलोचना से बहुत उद्विग्न हो उठे। पोप (ग्यारहवें) ने घोषणा की कि कम्यूनिज्म तो स्वभावतः अनिष्ट है अतः किसी

को भी जो ईसाई सभ्यता को नष्ट होने से बचाना चाहता है इसके किसी भी प्रकार के उद्यम में इसकी सहायता नहीं करनी चाहिए। इस्लाम के अनुयायी भी यही समझते हैं कि कम्यूनिज्म पाप एवं पापाश्रित उद्यम का पोषण करता है। इस्लाम के अनुसार कुरान के एक शब्द में भी अविश्वास करने वाला काफिर माना जाता है।

मार्क्स के मत में धर्म अर्थ पर अवलम्बित है। जब तक आर्थिक विषमता रहेगी तब तक धर्म पर पूँजीपतियों का शासन रहेगा। वही धर्मवीर, दानवीर, धार्मिक न्यासों के अधिकारी, मन्दिर-मठों के निर्माता बने रहेंगे। एक ओर समाज का शोषण करते रहेंगे और दूसरी ओर धार्मिक देवालय भगवान् को ठगते रहेंगे और जनता को अफीम की गोली देकर स्वयं के धर्मात्मा होने का अहंकार बढ़ाते रहेंगे।

(ख) अर्थ लोभ से पण्डागिरी, पोप लीला फैलती है। पोप या पण्डे को न धर्म से मतलब है न जनता से। उसे तो केवल अपनी दान-दक्षिणा का लोभ है।

(ग) पुरोहित समाज ऐसी पूजा पद्धतियां एवं धार्मिक क्रियायें आविष्कृत करता है जिससे जनता की जेब का अधिक से अधिक पैसा पण्डा, पुरोहितों की जेब में आ सके।

(घ) पोप मोटी-मोटी रकमें लेकर स्वर्ग के मुक्तिपत्र बांटता रहता था।

समाज की आर्थिक स्थितियां बदलने के साथ-साथ धार्मिक और नैतिक नियम भी बदलते जाते हैं। जब देश में आर्थिक सम्पन्नता होती है तब सर्वदेवेभ्यो अतिथि माना जाता है। जब समाज में आर्थिक दुर्बलता आ जाती है तब अतिथि सत्कार के नियम एवं मुहावरे बदल जाते हैं। तब पहले दिन का मेहमान दूसरे दिन का बेईमान गिना जाने लगता है। धनी समाज के दान एवं स्वर्ण दान को धार्मिक पूजा-पाठ के विधान बनाता है। निर्धन समाज कहता है अभावे शालीचूर्णम् अभाव में चावल के आटे से काम चला लेते हैं।

कम्यूनिस्ट आलोचकों का कथन है कि धर्म राजनीति पर अंकुश लगाने की चेष्टा से रक्तपात एवं हिंसा को बढ़ावा देता है। सारे यूरोप के इतिहास में चर्च और State का धार्मिक शासन और राज्य शासन में परस्पर स्पर्धा, संघर्ष चलता रहा। राज्य शासन की चेष्टा रही धर्म शासन उसके अधीन रहे और धर्म शासन राज्य को अपने अधीन रखकर चलाना चाहता था। इसलिए चर्च और सरकार में परस्पर संघर्ष चलते रहते हैं और चर्च को खुलकर राजनीतिक शक्ति संतुलन के लिए स्पर्धा, संघर्ष व षड्यंत्र, हत्या, रक्तपात, सामूहिक हत्याकाण्ड, अग्नि होम आदि का सहारा लेना पड़ा। पहले चर्च ने गैर-ईसाइयों को मारना, जलाना प्रारम्भ किया। फिर राजनीतिक विरोधियों को नष्ट करने का अभियान चलाया। फिर गैर-ईसाई

राष्ट्रों के विरुद्ध जेहाद प्रारम्भ किए तथा गैर-ईसाई राष्ट्रों को धरती से उच्छेद करने का अन्तर्राष्ट्रीय अभियान चलाया। फिर ईसाई मत के ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के स्त्री-पुरुषों को तेल छिड़ककर सामूहिक रूप में जलाना प्रारम्भ किया। पोप ने अपने धार्मिक न्यायालय बना लिए जो तनिक भी विरोध करने वाले या भिन्न मत रखने वाले लोगों को चर्च का शत्रु कहकर सामूहिक रूप से जलाने या मारने का दण्ड देता था। Blood Council ने हजारों-लाखों लोगों को फांसी पर चढ़ा दिया। धार्मिक न्यायालय (inquisition) ने पोप के एक वाक्य पर सन् 1568 में निदरलैण्ड (हालैण्ड) के तीन लाख निवासियों को तेल छिड़ककर सामूहिक रूप से जला दिया। सारे यूरोप और अमेरीका के चर्च का इतिहास इसी प्रकार की हिंसा व हत्या के कुकर्मों से रक्तरंजित है।

इस्लाम का इतिहास भी कम दर्दनाक नहीं है। उन्होंने गैर-मुस्लिम (काफिर) देशों के विरुद्ध जेहाद बोलकर भयंकर रक्तपात किए। नारी जाति का घोर अपमान किया। धन और इज्जत को लूटा, नन्हे-नन्हे बच्चों को दीवारों में चुनवाया। विधर्मियों की आंखें निकलवायी, बोटी-बोटी नुचवायी, आरों से चिरवाया, चर्खियों पर कटवाया, दो-दो पैसे में सिर बिकवाये, जलते हुए तवों पर जलाया, उबलती हुई देग में जलवाया, खून के खांखरे जलवाये, मंदिरों-मठों को तोड़ा, पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों को जलाया, देव प्रतिमाओं को अपने शौचालयों में औंधे मुख लगवाया। दुर्लभ ग्रंथों को जलाकर अपने हमाम गर्म करवाये और देश के नर-नारी को विदेशों में गुलाम बनाकर बेचा। यह सब दुर्भाग्य से धर्म के विस्तार के लिए घोर अधर्म होते रहे। इसलिए इनको देखकर आलोचकों को धर्म से घृणा हो गई। उनका अनुमान है कि धर्म ने मानव के हित की अपेक्षा अहित ही अधिक किया है।

मार्क्स के धर्म विचार की आलोचना—वास्तव में मार्क्स ने अथवा उसके प्रेरक फयूरबर्ग ने जो आलोचना की है वह कुछ मात्रा में पंथ (Religion) की आलोचना हो सकती है, धर्म की नहीं। धर्म का मूल अर्थ है कर्तव्य। धर्म उन शाश्वत विश्वव्यापी नैतिक कर्तव्यों का बोध कराता है जिसका किसी पंथ अथवा व्यक्ति से कोई विरोध नहीं है। यह उन शाश्वत मूल्यों का आख्यान है जो मानव समाज की सत्ता एवं व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। इसलिए भारत के ऋषियों ने कहा कि धर्म वह शाश्वत तत्त्व है जो समाज को धारण कर रहा है। **'धर्मो धारयते प्रजा'।** उदाहरणार्थ—यदि एक विद्यालय में प्राचार्य अपने धर्म (कर्तव्य) का उचित पालन करे, अध्यापक अपने-अपने कर्तव्यों का उचित पालन करें, छात्र एवं आदेशपाल भी अपने धर्म में सचेष्ट रहें तो उस विद्यालय की स्थिति एवं व्यवस्था बनी रहेगी। यदि उस विद्यालय में से धर्म तत्त्व को निकाल दिया जाए

अर्थात् न प्राचार्य अपना कर्तव्य पालन करे, न शिक्षक, न छात्र, न आदेशपाल तो वह विद्यालय एक क्षणभर में विनष्ट हो जाएगा। अतः स्पष्ट हुआ कि विद्यालय की स्थिति न ईंटों पर निर्भर है, न फर्नीचर पर और न किसी दफ्तर के कागज, फाइलों पर। विद्यालय की वास्तविक स्थिति तो कर्तव्य पर है। कर्तव्यपरायण गुरु और श्रद्धापरायण शिष्य भारत के प्राचीन गुरुकुलों में जंगल में वृक्ष के नीचे बैठकर बड़ी-बड़ी ज्ञान साधनायें कर पाये थे और महान् ग्रंथों की रचना कर सके थे। आज देश की 110 यूनिवर्सिटी और संसार के हजारों विश्वविद्यालय बड़े-बड़े वैभवशाली भवन, ऊंचे वेतन वाले प्राध्यापक और वैभवशाली वेश-भूषा पहने छात्र होने पर भी कर्तव्य भावना के अभाव से शिक्षा या ज्ञान में विशेष प्रगति नहीं हो रही है। इसी प्रकार यदि परिवार, पिता-माता, पुत्र-पुत्री, सेवक-स्वामी सभी अपने-अपने कर्तव्यों का उचित पालन करें तो परिवार टिका रहेगा अन्यथा धर्म के लोप से परिवार क्षणभर में ध्वस्त हो जाएगा। इसी प्रकार समाज, राज्य, राष्ट्र और मानवता सभी धर्म तत्त्व पर टिके हुए हैं।

धर्म शब्द संस्कृत भाषा का है और Religion आंग्ल भाषा का। मार्क्स Religion शब्द से परिचित था धर्म से नहीं। Religion पंथ या सम्प्रदाय जो किसी व्यक्तिविशेष द्वारा किसी देशविशेष में किसी तिथिविशेष को स्थापित किया जाता है। इसमें एक पैगम्बर (धर्म संस्थापक या ईश्वर का देवदूत), एक धर्म पुस्तक और एक धार्मिक विश्वास अनिवार्य है। One Prophet One book and one dogma. धर्म में किसी व्यक्ति, देश-काल, पात्र, पुस्तक और विश्वास की अनिवार्यता नहीं है। इसलिए धर्म सारी मानवता का एक ही है, पंथ अनेक हो सकते हैं। धर्म व्यक्तियों द्वारा स्थापित न होकर व्यक्तियों एवं समाजों की स्थापना का कारण बनता है। पंथ किसी व्यक्ति द्वारा स्थापित होने के कारण संस्थापक के जन्म अथवा प्रेरणा से पहले अस्तित्व में नहीं रहता। स्वाभाविक रूप से ईसा के माता-पिता एवं पूर्वज ईसाई नहीं हो सकते और मुहम्मद के बाप-दादा मुहम्मदी नहीं। इसकी तुलना में हिन्दू धर्म पंथ नहीं धर्म है। यह राम-कृष्ण की कृति नहीं वरन् राम कृष्ण हिन्दू धर्म की फुलवारी के सुन्दरतम फूल हैं। इस प्रकार हिन्दू धर्म का कोई भी व्यक्ति संस्थापक सिद्ध नहीं होता। इसलिए इसे सनातन धर्म, शाश्वत धर्म या Eternal Religion कहा जाता है।

सारी धार्मिक असहिष्णुता पंथों से पैदा होती है, धर्म से नहीं। कट्टरपंथी, अंधविश्वासी, मजहबी लोग दूसरे पंथों को गाली देकर काफिर या नास्तिक कहते हैं। इसी घृणा के बीज से संघर्ष, रक्तपात युद्ध-महायुद्ध और जेहाद प्रस्फुटित होता है। धर्म सारी मानवता का एक है। उसे सनातन धर्म, मानव धर्म या हिन्दुस्तान में प्रकट होने के कारण हिन्दू धर्म भी कहा जाता है। जिसका किसी से स्वार्थ संघर्ष

नहीं। इसलिए हिन्दू ने धर्म के नाम पर किसी का धर्म नहीं लूटा, न धन, न देश, न आजादी और न मां-बहनों की इज्जत लूटी। हिन्दू सर्वधर्म समभाव में विश्वास रखता है। उसका विश्वास है कि भिन्न-भिन्न पंथ एक ही लक्ष्य की ओर जाने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, भवसागर से तरने के लिए भिन्न-भिन्न नौकायें हैं। अत: उनमें स्पर्धा या झगड़ा करना मूर्खता है। पंथानुयायी अपने पंथ को ठीक और अन्य पंथों को गलत बता देते हैं। अपने को Church of God और दूसरों को शैतान का चर्च कहते हैं। अपने को धार्मिक और दूसरों को काफिर कहकर उसके सर्वनाश के लिए महायुद्ध छेड़ते हैं। दुर्भाग्य से मार्क्स को केवल पंथों का ही परिचय प्राप्त हुआ। धर्म जैसे विश्वव्यापी लोकतांत्रिक एवं तर्कसम्मत कर्तव्य विधान का परिचय प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए उसकी सारी आलोचना ईसाइयत और इस्लाम की आलोचना है। हिन्दू धर्म की नहीं।

कट्टरपंथी-मजहबी लोग अपने पंथ की बड़ाई और दूसरों की निंदा करने में अनजाने में ही अपने पंथ की निंदा कर बैठते हैं। जब वे कहते हैं जो ईसा या मुहम्मद का मार्ग नहीं मानेंगे तो उन्हें नरक की अग्नि में जलना पड़ेगा, तब वे भूल जाते हैं कि वे अपने ही पैगम्बरों के माई-बाप एवं समस्त पूर्वजों को नरक की अग्नि में धकेल रहे हैं क्योंकि वे किसी भी तर्क से ईसाई या मुसलमान नहीं हो सकते हैं।

मार्क्स ने यूरोप में पोप की पाखण्ड लीला का बड़ा घृणित रूप देखा था। इसलिए एक समाज सुधारक के नाते उसे उसका विरोध करना पड़ा। वह उचित ही था। उसे वेद, गीता और उपनिषदों के विश्व कल्याणकारी धर्म का ज्ञान ही नहीं था। इसलिए उसकी आलोचना एकांगी है।

मार्क्स अर्थशास्त्री था, धर्मशास्त्री नहीं। जब उसने धर्म का अध्ययन ही नहीं किया तो धर्म की आलोचना का उसे कोई अधिकार हो ही नहीं सकता। समालोचना का अर्थ है सम्यक् प्रकार से विषय या तत्त्व को देखना। लोचन का अर्थ है नेत्र जिससे देखा जाता है। जब मार्क्स ने आंख खोलकर धर्म का अध्ययन ही नहीं किया तो उसे आलोचना का नश्तर चलाने का क्या अधिकार है? सर्जन आंख खोल कर रोगी के शरीर को देखता है फिर नश्तर चलाकर रुग्ण भाग का ऑपरेशन करता है। जिसने शरीर विज्ञान, औषधि विज्ञान, शल्य चिकित्सा का अध्ययन ही नहीं किया, आँख खोलकर रोगी के रोग को देखा ही नहीं और ऑपरेशन का नश्तर चला दिया, वह एक अपराधपूर्ण कर्म करता है। इस दृष्टि से मार्क्स की धर्म आलोचना त्रुटिपूर्ण एवं अपराधपूर्ण है।

मार्क्स ने यूरोप में प्रचलित रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों की आलोचना की है जो क्षम्य एवं स्वीकार्य हो सकती हैं। किन्तु, यह धर्म की समग्र आलोचना नहीं

मानी जा सकती। नाक पर मक्खी बैठने से मक्खी उड़ाना अनिवार्य कर्तव्य है, किन्तु नाक को उड़ा देना मूर्खता है। धर्म या पंथ में जो कुछ पाप-पाखण्ड लीला घुस आई थी उसकी आलोचना जैसे वाईक्लिफ, मार्टिन लूथर, कबीर, नानक, दयानन्द, विवेकानन्द आदि ने की वह तो धर्म एवं समाजसेवा समझी जा सकती है। किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक चले आते हुए धर्म को ही जड़मूल से उखाड़ने की बात न धर्म की सेवा है न समाज की सेवा है।

मार्क्स ने धर्म के रुग्ण स्वरूप को देखा, स्वस्थ स्वरूप को नहीं। न उसने प्रह्लाद की अविचल निष्ठा का परिचय प्राप्त किया न ध्रुव के अटल विश्वास का, न हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा का, न शिवि के त्याग का, न दधीचि के बलिदान का, न राम की तपस्या का, न भरत के भ्रातृत्व प्रेम का, न सीता के सतीत्व का, न सावित्री के सती धर्म का, न कृष्ण की यज्ञमय जीवनभावना का, न बुद्ध की करुणा का, न महावीर की जीवदया का, न चाणक्य की निष्काम राष्ट्रभक्ति का, न शंकराचार्य के निर्मल विवेक से प्रमाणित विश्वव्यापी अद्वैत तत्त्व का, न पतंजलि के योगदर्शन का, न गौतम के न्यायदर्शन का, न चैतन्य प्रभु की अलौकिक भक्ति का, न कबीर, नानक और तुलसीदास के ईश्वर प्रेम का, न मीरा, सूर, रसखान की हृदयस्पर्शी भक्तिभावना का—ये सब ऐसे दिव्य चरित्र हैं जिनसे सारी मानवता का मुख उज्ज्वल है। यदि मार्क्स को इनका परिचय होता और वह धर्म के स्वस्थरूप का विधिवत अध्ययन करता तो निश्चय ही वह ऐसी आलोचना कथमपि नहीं करता।

यदि कोई राजा किसी रुग्णालय में सभी रोगी लोगों को रोगग्रस्त देखकर यह सोचे कि सभी मानव असाध्य रोगों से पीड़ित है, इसलिए सब मानवों को तोप के गोलों से उड़ा दिया जाए तो उस मूर्ख राजा को स्वयं भी तोप के गोलों का शिकार बनना पड़ेगा क्योंकि वह स्वयं भी मानव है। मार्क्स ने धर्म के विकृत रूप, रुग्ण रूप को देखकर स्वस्थ धर्म को देखे बिना ही समस्त धर्मों को नष्ट करने की घोषणा कर दी।

मार्क्स मूलतः जड़वादी है। जड़वादी से भी बढ़कर अर्थवादी है। अतः वह चेतना की व्याख्या जड़ से करता है और धर्म की व्याख्या अर्थ से करता है।

पश्चिम में मध्यकालीन ईसाई पंथ अर्थलाभ की पाखण्ड लीला के लिए बदनाम था। किन्तु समस्त धर्म को अर्थ का कृतदास बना देना घोर अन्याय है। भारत में ऋषियों ने कहा धर्म और अर्थ की टक्कर होने पर धर्म के लिए अर्थ को ठुकरा दें। राजा हरिश्चन्द्र ने धर्म के लिए राज्य, सम्पत्ति, पत्नी, परिवार सभी का त्याग किया। भगवान् राम ने धर्म के लिए राज्य त्याग दिया। पाण्डवों की तपस्या क्या अर्थ के लिए थी? या अर्थ त्याग की थी। बुद्ध और महावीर ने धर्म के लिए

राज्य को त्यागा। सम्राट् अशोक धर्म के लिए सारे भारत के निष्कंटक राज्य को त्यागकर अशोक महान् बना। चाणक्य सारे भारत का अखण्ड साम्राज्य निर्माण करके भी स्वयं फूस की झोपड़ी में रहता और राज्य के खर्चे का एक बूंद तेल भी निजी कार्य के लिए प्रयोग करने को पाप समझता था। राजा हर्ष अपने राजकोष का सारा धन (अपने शरीर के वस्त्र एवं मुकुट तक) प्रयागराज में दान कर अपनी बहन राज्यश्री से एक धोती मांगकर पुनः घर लौटता। राणा प्रताप ने धर्म के लिए राज्य, वैभव विलास, सोने-चांदी के पात्र एवं राज्यश्री का भोग त्यागकर अरावली पर्वत की टेकरियों में वनवासी का जीवन बिताया। घास की रोटी खाना स्वीकार किया। हकीकतराय ने धर्म के लिए प्राणदान दिया। गुरु गोविन्दसिंह के नन्हे बच्चे दीवारों में चुने गए। जबकि ईसा ने कौन-सा अर्थसंग्रह करने के लिए पंथ चलाया? पादरियों के कुकर्म देखकर ईसा के धर्म को दोषी बताना अन्याय है। भारत की उज्ज्वल धर्मपरम्परा मार्क्स के कथन को नितान्त भ्रामक सिद्ध करती है। काल के बीतने के साथ मानव की मानसिक दुर्बलता के कारण धर्मों एवं पंथों में कई विकृत रूढियां अवश्य आ जाती है। किन्तु रूढि को ही धर्म मानकर पूरे धर्म को तोप का पलीता लगाना अन्याय है। धर्म अर्थ का दास नहीं वरन् अर्थ की दासता से मुक्ति का मार्ग है। सामान्य लोग अर्थ के दास हैं। इसलिए अर्थ के लिए बड़े-बड़े अनर्थ करते रहते हैं। किन्तु, धर्म का प्रकाश मिलने पर मानव अर्थ को विश्व कल्याण के लिए त्यागकर यज्ञमय जीवन जीने लगता है।

भारतीय धर्म कहता है कि मानव अर्थ का स्वामी नहीं वरन् Trustee है। एक ईमानदार न्यासी के रूप में उसे अर्थ का स्वयं के निजी कल्याण, पारिवारिक कल्याण, जाति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व कल्याण के लिए अच्छे से अच्छा सदुपयोग करना चाहिए। तथा न दाता का अहंकार रखना चाहिए न सत् कर्म के फल का लोभ-लालच। ऐसा आदर्श धर्मपरायण अर्थ-लोभ से मुक्त यज्ञमय जीवन जीने वाला निष्काम कर्मयोगी मार्क्स की कल्पना में भी नहीं था। अर्थ मनुष्य को स्वार्थी बनाता है और धर्म निःस्वार्थी एवं परमार्थी। यदि मानवता के लम्बे इतिहास में मनुष्य के पास धर्म का प्रकाश न होता तो सम्भवतः पग-पग पर स्वार्थों के संघर्ष में परस्पर हिंसा, हत्या करते-करते मानवता के सर्वनाश की घड़ी आ जाती। मानवता को बचाने वाले धर्म को ही नष्ट करने वाला मानवता का सबसे बड़ा हत्यारा बन जाता है।

भारत के ऋषियों ने चेतावनी दी है 'धर्मविहीनं अर्थमनर्थम्। हमारा सूत्र है यज्ञविहीनम् अर्थं व्यर्थम्। यदि अर्थ पर धर्म का अंकुश न रहे तो अनर्थ बन जाता है। मार्क्स की अर्थ की सर्वोच्च महत्ता से प्रभावित होकर ही आधुनिक पाश्चात्य अर्थशास्त्र तीन मान्यताएं लेकर चलता है—

(क) Money is the sole goal of life. अर्थ ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।

(ख) Every man is born selfish.

(ग) In the whole study of economics ethics has no interference अर्थशास्त्र के पूरे अध्ययन में धर्मशास्त्र (नीतिशास्त्र) का कोई दखल नहीं। इसी आधार पर लन्दन विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के अध्यक्ष Dr. Benham ने एक पुस्तक लिखी Economics of Prostitution जिसमें वह यह प्रतिपादित करता है कि वेश्यावृत्ति का धंधा एक माता या पत्नी के कार्य की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद है। मार्क्स अर्थ को अनावश्यक रूप से अधिक महत्त्व देकर मानव को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में लूटपाट, हिंसा, हत्या, व्यभिचार एवं भ्रष्टाचार के लिए भड़का रहा है।

पूँजीवाद का समर्थन भारतीय धर्मशास्त्र भी नहीं करते। किन्तु अन्न एवं धन के वितरण के लिए वे मार्क्सवादी लूटपाट एवं हत्या व हिंसा का मार्ग भी नहीं बताते।

वेद में कहा है—कंजूस व्यक्ति व्यर्थ में अन्न भण्डार जमा कर रहा है। मैं सच कहता हूं इसी में उसकी मृत्यु छिपी है। न वह अतिथि को खिलाता है न मित्र को। निश्चय ही वह केवल स्वयं खाता है वह पाप ही खाता है। इसी भाव को गीता ने कहा है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। 3/13, गीता

अर्थात् जो केवल अपने लिए ही पकाते हैं वे केवल पाप ही खाते हैं। श्रीमद् भागवत महापुराण में कहा है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्यते स स्तेनो दण्डमर्हति।। 7/14/8, भागवत

अर्थात् जितने से मनुष्य का पेट भर जाए उतना ही उसका अधिकार है। इससे अधिक पर जो अधिकार मांगता है, वह चोर है। स्पष्ट है कि साम्ययोग का जो आध्यात्मिक दर्शन भारत ने दिया है वह सत्य, अहिंसा, उदारता, यज्ञ भावना पर आधारित है। उससे राम राज्य का निर्माण होता है, कम्युनिस्ट हिंसक राज्य का नहीं। चोरी, लूटपाट का धन अनर्थ है और कंजूस (अर्थ संग्रही), पूँजीपति का धन व्यर्थ है। अर्थ न अनर्थ होना चाहिए न व्यर्थ। अर्थ सार्थक होना चाहिए। अर्थ को धर्म से कमावें और यज्ञ भाग में लगावें। भारत के इस अर्थ दर्शन के सामने मार्क्स का धर्म दर्शन, अर्थ दर्शन, नीति दर्शन बहुत क्षुद्र प्रतीत होता है।

उसके दर्शन में अर्थ ही राजा है, राजनीति पटरानी है। धर्म उसका दास और नैतिकता दासी है।

मार्क्स ने नैतिकता को अर्थ की रखेल बनाकर नैतिकता का भयंकर अपमान किया है। यदि नैतिकता सदा अर्थ की दया पर ही जीवित रहती है तो वह सदा बदलने वाली, पैसे पर बिकने वाली वेश्या जैसी बन जाएगी। परिणामतः कोई विश्वव्यापी एवं शाश्वत नैतिक नियम नहीं बचेगा। मार्क्स कहता है नैतिक मूल्य पुराने जमाने के खोटे बाट-माप हैं जो आज निरुपयोगी सिद्ध हो चुकी है। इसका अर्थ है जो कल नैतिक था वह आज अनैतिक हो जाएगा और जो आज मार्क्स के समय नैतिक होगा वह मार्क्स के चेलों के समय अनैतिक बन जाएगा। यदि नैतिकता इतनी कच्ची भित्ति (नींव) पर खड़ी है तो उस भित्ति पर समाज का भवन कब तक खड़ा रह सकता है। नैतिक नियम विश्वव्यापी, शाश्वत और चिरस्थायी होने चाहिए। अर्थ प्रलोभन एवं भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा माध्यम है। यदि नैतिकता उसकी दया पर हो तो प्रलोभन और भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने वाली नैतिकता कहां से आएगी?

नैतिकता मानव के अन्तःकरण से स्वतःस्फूर्त होनी चाहिए। यह पुलिस, प्रशासन, राजदण्ड अथवा किसी अधिनायक के आदेश से थोपी नहीं जा सकती। पुलिस के दण्ड से लोगों को सदाचारी नहीं बनाया जा सकता। यदि प्रयास किया जाए तो हर व्यक्ति के लिए उसके क्रियाकलाप पर नजर रखने वाला एक-एक पुलिस कान्सटेबिल चाहिए। इस तरह देश की आधी जनता को पुलिस का कार्य करना पड़ेगा। फिर जो पुलिस के सिपाही हैं वे भी देश के नागरिक हैं। उनके ऊपर नियंत्रण रखने के लिए और करोड़ों पुलिस के सिपाही चाहिए। इस प्रकार उत्तरोत्तर सिपाहियों की संख्या बढ़ती जाएगी और नैतिकता घटती जाएगी। सारा देश पुलिस प्रशासन बन जाएगा। संगीनों द्वारा जनता पर नैतिकता नहीं लादी जा सकती।

भारतीय नीतिकारों एवं पश्चिम के नीतिकारों में काण्ट, ब्रैडले, ग्रीन आदि ने यह ठीक ही कहा है कि नैतिक नियम अन्तःस्फूर्त होता है बाहर से लादा हुआ नहीं। नैतिक नियम की चेतना Moral sense या नैतिक चेतना कहलाती है। यह प्रत्येक मनुष्य में जन्मजात होती है। बाहर से सीखी-सिखाई हुई या अर्जित नहीं। मार्क्स जब चेतना को नहीं मानता तो नैतिक चेतना का स्थान कहां बचता है? जड़ वस्तु न स्वयं को जानती है न अन्यों के सम्बन्ध को जानती है। न जड़ चेतन के सम्बन्धों को जानती है न चेतन चेतन के सम्बन्धों को जानती है। चेतन वस्तु जड़ को भी जानती है, जड़ जड़ के सम्बन्ध को जानती है, जड़ चेतन के सम्बन्ध को जानती है और अपने आपको भी जानती है। चेतना ठीक और गलत को भी जानती है और नैतिक-अनैतिक का विवेक भी रखती है और सत्-असत् का भी विवेक रखती है।

(क) सामान्य चेतना—जड़ का ज्ञान, जड़-जड़, जड़ चेतन, चेतन-चेतन वस्तु का ज्ञान

(ख) मानसिक चेतना—दु:ख सुख का ज्ञान

(ग) बौद्धिक चेतना—ठीक-गलत का ज्ञान, तर्कज्ञान और अनुभूतिज्ञान

(घ) नैतिक चेतना—नैतिक-अनैतिक का ज्ञान

(ङ) आध्यात्मिक चेतना—सत्-असत् का ज्ञान, आत्मज्ञान

इस प्रकार Animality, Mentality, rationality, morality and spirituality सभी चेतना के विकास के क्रमिक स्तर हैं। चूंकि मार्क्स के जड़वाद में चेतना का कोई बीज ही नहीं इसलिए नैतिक चेतना का कोई स्थान ही बाकी नहीं बचता। पर चूंकि नैतिकता के बिना समाज चल ही नहीं सकता इसलिए मार्क्स नैतिकता का कोई आधार खोजता है। मार्क्स के पास दो ही आधार शेष बचते हैं। एक अर्थ और दूसरा प्रशासन का डण्डा। अर्थ के द्वारा मनुष्य को प्रलोभन दिया जा सकता है और प्रशासन द्वारा भय दिखाया जा सकता है। ये दोनों ही भौतिक साधन मानव मन को विकृत करने वाले हैं। प्रलोभन से मनुष्य सिद्धान्तहीन, भ्रष्टाचारी बन जाता है और भय द्वारा वह पराधीन, पंगु पशु जैसा बन जाता है। सच्चा मानव वही है जो न प्रलोभन पर बिके और न भय के सामने झुके। सच्ची नैतिकता भी प्रलोभन निरपेक्ष एवं भयमुक्त होनी चाहिए। मार्क्स के दर्शन में ऐसी नैतिकता का कोई तार्किक आधार ही नहीं बचता।

नीतिशास्त्र पश्चिमी परिपाटी की दर्शनधारा है। प्राचीन भारत में भी नैतिक मूल्यों की विशद् चर्चा हुई। किन्तु यह सब धर्म के अंग के रूप में ही हुई है। हमारा धर्म शब्द नैतिक सदाचार का ही परिचायक है। महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है—

यतो अभ्युदयनि:श्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिसके द्वारा इहलोक में अभ्युदय (सामूहिक विकास, उन्नति) एवं परलोक में परमसिद्धि की प्राप्ति हो, वही धर्म है। इहलोक में मानव के सद्व्यवहार के नियमों को नैतिक नियम कहा जाता है। इसे ही वेद में 'ऋतम्' महाभारत में धर्म, संतों ने नीति एवं पश्चिमी दर्शन में Ethics या Science of Morality कहा गया है। धर्म का दूसरा पक्ष है परम निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति का। इसके लिए भिन्न-भिन्न धार्मिक एवं साम्प्रदायिक साधनाएं बतायी गयी हैं। इस प्रकार नैतिकता जहां मुख्य रूप से इहलोक में सद्व्यवहार के लिए अनिवार्य है वहां मत-मजहब आदि परलोक में परमशांति की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। मार्क्स नैतिकता का तिरस्कर्ता एवं धर्म का वैरी है। मानव इतिहास साक्षी है कि सभी नैतिक मूल्य

सर्वप्रथम धर्म की गोदी में ही पले। वेद में उपदेश दिया—'सत्यं वद। धर्मं चर। मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।' आदि। इस प्रकार मानवता के शैशव में धर्म एवं भिन्न-भिन्न मजहबों ने मानव समाज को नैतिक मूल्यों की घुट्टी पिलायी। यदि धर्म तथा भिन्न-भिन्न मजहबों ने प्रारम्भ से अभी तक मानवता को नैतिकता एवं सदाचार सिखाकर घोर संकटों एवं प्रलोभनों की आंधी में जीवित एवं सुरक्षित रखा है अब वही धर्म मानवता को विष देकर मार तो नहीं देगा! जन्म देने वाली माता और पालने वाली धाय कभी भी अपने पालित पुत्र को विष नहीं दे सकती। जड़ की गोदी में कोई नैतिक नियम न जन्मता है और न फलता-फूलता है। चरित्र का मूल्य किसी भी भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त से सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका मूल्य विश्व इतिहास में स्वत:सिद्ध है। नैतिक मूल्य भिन्न-भिन्न धर्मों की फुलवारी में खिलते हैं। धर्म शब्द से ही मार्क्स को भयंकर चिढ़ है। इसलिए कम्यूनिज्म में अनैतिकता का बोलबाला हो जाता है।

रूस के मनोवैज्ञानिकों ने अब यह कहना शुरू किया है कि काम सम्भोग कोई पाप न होकर वैसी ही सामान्य शारीरिक मानसिक क्षुधापूर्ति जैसा विषय है। जैसे प्यास लगने पर पानी का गिलास पीना। इस प्रकार की अनैतिक एवं मर्यादाविहीन विचार-सारणी से स्कूलों-कॉलेजों में पढ़ने वाले युवक-युवती में खुलकर यौन-भ्रष्टाचार चल रहा है। 10 प्रतिशत के लगभग कुंवारियों का कौमार्य सुरक्षित नहीं। 40 प्रतिशत से अधिक युवक-युवतियां यौन रोगों से ग्रस्त हैं।

नैतिकता की, धर्म की प्रारम्भिक शिक्षा परिवार में ही होती है। अत: यदि व्यक्तिगत परिवार को ही उजाड़ दिया गया तो नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का श्रेष्ठतम पालना नष्ट हो जाएगा।

व्यक्तिगत परिवार की पवित्रता ही चरित्र एवं सतीत्व को मूल्य प्रदान करती है। यदि व्यक्तिगत परिवार ही नहीं बचा तो स्त्री-पुरुषों का निर्बन्ध संभोग भोगविलास की पाशविकलीला बन जाएगा। तब मानव समाज में Human Husbandry चलने लगेगी।

लैनिन ने रूस के पेरिस में कम्यून (Commune) का प्रयोग किया। किन्तु उसके परिणाम बड़े भयंकर निकले। 75 प्रतिशत बच्चों को यौन रोग लग गया तथा पूरा समाज व्यभिचार एवं हिंसा की अग्नि में जलने लगा। इसलिए यह प्रयोग बंद करना पड़ा।

मार्क्स समाजवाद या साम्यवाद के लिए समता को आवश्यक मूल्य मानता है। किन्तु इस समता के दर्शन का आधार क्या है? डॉ. राममनोहर लोहिया (प्रसिद्ध समाजवादी विचारक) स्वीकार करते हैं कि समता का आधार नैतिक

एवं आध्यात्मिक ही होना चाहिए। केवल पैसे की समानता, पद की समानता या प्रशासन के दण्ड द्वारा लादी गई समानता स्थायी एवं सच्ची समानता नहीं हो सकती है। उन्होंने कहा कि गीता ही हमें समता का सच्चा दर्शन प्रदान करती है—

दु:ख-सुख में समान
हानि-लाभ में समान
निन्दा-स्तुति में समान
मित्र-शत्रु में समान
परिस्थिति की समानता
अन्त:स्थिति की समानता
जन में समानता
वर्णों में समानता
आश्रमों में समानता
चाण्डाल और ब्राह्मण में समानता
नर के भीतर नारायण देखकर मानवमात्र की समानता
जीव के भीतर शिव का दर्शन कर जीवमात्र की समानता
जड़-चेतन में एक तत्त्व देखकर अद्वैत की समानता।

इस प्रकार समता के लिए जो आध्यात्मिक आयाम चाहिए वे मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन में नहीं हैं। समता की साधना मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक साधना है। मात्र कम्यूनिज्म का नारा या रूसी डिक्टेटरशिप का डण्डा समता नहीं ला सकता। इसी कारण सन् 1914 से 1981 तक पिछले 63 वर्षों में आज तक रूस में समता या समानता स्थापित नहीं हो सकी। वहां वेतनमानों में अभी तक एक और बीस का अन्तर है।

क्रान्ति लाने के लिए जिस रक्त क्रान्ति का प्रचार मार्क्स ने किया है उसके दुष्परिणाम बड़े भयंकर हैं। सन् 1905 एवं 1919 की रक्त क्रान्तियों में रूस में लगभग 1 करोड़ लोग मारे गए। क्या रूस में मरने वाले वे एक करोड़ पूँजीपति थे? एक करोड़ पूँजीपति तो आज भी सारे विश्व में नहीं होंगे। वास्तव में गरीबों के हित के नाम पर किए जाने वाले इन नरसंहारों में अधिकांशत: गरीबों का ही नरसंहार होता है। मानव-जाति के इतिहास में गरीब मजदूर का राज्य लाने के नाम पर जितनी जनसाधारण की हत्यायें समाजवादी देशों में हुई हैं उतनी किसी चंगेज, हलाकू, नादिरशाह या याहियाखान ने भी नहीं की होगी।

स्वयं रूस में भी जो कम्यूनिज्म का सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय महातीर्थ है अभी तक धर्म एवं धर्मस्थान वर्तमान हैं क्योंकि प्रशासन के दण्ड द्वारा धर्म या मजहब

को कभी भी नहीं मिटाया जा सका है। जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया तब शासन के आदेश से सभी गिरजाघरों में रूस की विजय के लिए प्रार्थनाएँ की गई।

धर्म गरीब का अवलम्बन और दु:खियों का सहारा है। यदि यह भी न रहे तो मानव मन को भयंकर आघात लगेगा और अनेकों लोग हृदय के अपघात अथवा आत्महत्या द्वारा समाप्त हो जाएंगे। जब तक मार्क्स की कल्पना का समाजवाद स्थापित नहीं होता तब तक धर्म की आवश्यकता बनी ही रहेगी क्योंकि पता नहीं मार्क्स का समाजवाद कितनी शताब्दियों बाद आएगा या आएगा भी या नहीं। तब तक दु:खी मानवता से धर्म का सहारा भी छीन लेना कितना बड़ा अन्याय एवं अपराध होगा। अन्धे व्यक्ति को यदि नेत्रों की ज्योति न दे सकें और जब तक ऑपरेशन द्वारा ज्योति लौटकर नहीं आती तब तक अन्धे की लाठी भी छीन लेना कितना बड़ा अन्याय है। चाहे उसे काल्पनिक सुख मिले या असली। सुख मिलता तो है ही। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा कि जब तक किसी व्यक्ति की ऊंची श्रद्धा विकसित नहीं होती तब तक उससे पहले वाली निचली श्रद्धा छीन लेना उसकी हत्या करने के बराबर है। इस दृष्टि से मार्क्स निर्धन, असहाय जनता का हत्यारा बन जाता है। धर्म से मिलने वाली शांति तो युगों के अनुभव से प्रमाणित है। मार्क्स के कम्यूनिज्म से मिलने वाली शांति अभी प्रयोगशाला की परखनली में ही सीमित है। वह इतिहास में सिद्ध-प्रसिद्ध नहीं हुई।

ईश्वर का सगुण-साकार और व्यक्ति रूप कुछ पंथों में प्रतिष्ठित है। किन्तु सभी में नहीं है। जैन समाज, बौद्ध समाज, आर्य समाज और सिक्ख समाज सगुण साकार देहधारी ईश्वर को नहीं मानता। जैन समाज सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं मानता परन्तु आदर्श रूप ईश्वर को मानता हैं। बौद्ध समाज ईश्वर की सत्ता के विषय में मौन है। आर्य समाज ईश्वर को मानता है किन्तु निराकार रूप में ही। सिक्ख समाज भी निराकार ईश्वर को मानता है। अत: मार्क्स की आलोचना यदि ईश्वरवाद के विरुद्ध है तो भारत के कई धर्म उसकी आलोचना से मुक्त रहते हैं। अद्वैत वेदान्त भी मानव आत्मा से भिन्न किसी परमात्मा को नहीं मानता। अत: मार्क्स की आलोचना यहां खण्डित हो जाती है। आत्मा को अनन्त और परमसत् मानने वाले धर्मों पर मार्क्स की आलोचना का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस प्रकार मार्क्स का धर्मविचार त्रुटिपूर्ण, तर्कहीन, जल्दबाजी में शल्यक्रिया द्वारा गलत अंग काटने वाला, धर्म के रुग्ण रूप को ही धर्म मानकर समूचे धर्म के भवन को आग लगा देने वाला, नैतिकता को राजनीति की रखेल और अर्थ की वेश्या बना देने वाला, अगले कल्पित लक्ष्य तक पहुंचने से पहले ही पिछला प्रमाणित सहारा छीन लेने वाला और समाज में हत्या, हिंसा, अव्यवस्था, चरित्रहीनता, व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं व्यक्तिगत परिवार का अपहरण करने वाला, रक्त क्रान्ति के हिंसक

गीत गाने वाला विकृत विचार है। इसलिए गांधीजी ने कहा है कि कम्यूनिज्म असमानता के रोग के लिए जो इलाज प्रस्तुत करता है वह रोग से भी अधिक भयंकर है। The Cure is worse than the disease.

मार्क्स तथा उसके प्रेरक फयूरबर्ग का आक्षेप है कि धर्म मानव में अन्यता भाव, आत्मविराग का भाव उत्पन्न करता है। यह कथन शुद्ध धर्म के विषय में तर्कहीन सिद्ध होता है। यदि ईश्वर की सत्ता मात्र कल्पना है तो मार्क्स का कथन कुछ मात्रा में ठीक माना जा सकता है। किन्तु यदि ईश्वर की सत्ता तर्क एवं तथ्य द्वारा प्रमाणित है तो धर्म से आत्मविराग या अन्यताभाव होने के स्थान पर ईश्वर के प्रति आकर्षण, आत्मीयता एवं अनन्यता भाव ही पैदा होगा। चैतन्य महाप्रभु, सूर और तुलसी का ईश्वर के प्रति जो प्रेम है क्या वह भय का भाव है या अनन्य भक्ति का भाव। मीरा बाई भगवान् से अनन्य प्रेम में अपना सब कुछ न्योछावर करने को प्रस्तुत हो जाती है। इसे अन्यताभाव कहना, कल्पित ईश्वर से भय का भाव कहना तर्क का नग्न-तिरस्कार ही है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ईश्वर मानव के ही कल्पित आदर्शों का मूर्तरूप है। किन्तु, यह व्याख्या तभी चल सकती है जब यह सिद्ध हो जाए कि ईश्वर की सत्ता वास्तव में नहीं है। वह मात्र मानव मन की कल्पना ही है। जैसे मानव मन के भूत की सत्ता केवल मानव के भीति भाव में ही है। जब ईश्वर सृष्टिकर्ता, व्यवस्था का नियामक, नैतिक नियम का नियामक, चैतन्य का स्रोत, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान, तर्क विवेक एवं तथ्य द्वारा सिद्ध होता है तब उसे मानव के कल्पित आदर्शों का मूर्त रूप नहीं कहा जा सकता। वह परम सत्य एवं सत्ता को सत्ता देने वाला है। जिसकी अनुसंधान साधना में केवल स्वप्नशील मूर्खों ने नहीं वरन् बुद्ध, शंकर, चैतन्य, तुलसी, ईसा, मुहम्मद जैसे संसार के महानतम महापुरुषों ने भी अपना जीवनसर्वस्व निछावर कर दिया। कल्पना के पीछे धन एवं प्राण लुटाने वाला तिरस्कृत मूर्ख होता है। किन्तु ईश्वर रूपी सत्य के लिए जीवन निछावर करने वाला महापुरुष मानवता का मुकुटमणि बनकर पूजित हुआ है। मार्क्स सारे मानव इतिहास को झुठलाना चाहता है। या तो कल्पित आदर्शों के लिए जीवन की बाजी लगाने वाले सब महापुरुष मूर्ख और पागल थे या उनको मार्क्स के पागलखाने की हवा खानी पड़ेगी।

धर्म को अफीम की गोली कहना भी तर्कहीन व्याख्या है। मार्क्स ने ईसाई पंथ द्वारा ठगे हुए लोगों को देखा था जो पोप के अत्याचार को सहकर भी धर्मगुरु के शाप या पोप के भयंकर दण्ड के भय से विद्रोह या क्रान्ति नहीं कर सकते थे। कुछ लोग दु:ख को ईश्वरेच्छा मानकर भी सहते रहते थे। उन्हीं घटिया लोगों के आचरण को देखकर मार्क्स ने धर्म को अफीम की गोली कह दिया। वास्तव

में धर्म मनुष्य को धर्मपालन (कर्तव्य पालन) सिखाता है, कर्तव्य का त्याग या अकर्मण्यता नहीं। सच्चा धर्म मनुष्य को आशावादी बनाता है, निराशावादी नहीं। भाग्यवाद, देववाद एवं प्रारब्धवाद धर्म नहीं वरन् धर्म की घटिया व्याख्याएं हैं।

निश्चेष्ट होकर बैठे रहना यह महान् दुष्कर्म है। न्यायार्थ अपने बंधु को भी दण्ड देना धर्म है। दुर्भाग्य से मार्क्स गीता के कर्मशील धर्मोपदेश से परिचित नहीं था।

कर्म में मजदूर भावना और कर्मफल त्याग की भावना में बड़ा अन्तर है। एक स्वार्थ भावना है दूसरी यज्ञार्थ भावना। एक सकाम कर्म साधना है दूसरी निष्काम कर्म साधना है। दोनों के दो भिन्न स्तर हैं। कोई भी धर्म यह उपदेश नहीं करता कि कर्ता को फल और मजदूर को मजदूरी नहीं मिलनी चाहिए वरन् सभी धर्म एवं मजहब यही उपदेश करते हैं—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा।।
अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

नैतिक न्याय की तुला में कर्म और उसका फल बराबर तौलना चाहिए। किसी मजदूर को मजदूरी से वंचित करना निश्चय ही शोषण एवं अन्याय है। किन्तु मानव का, मानव के विकास का एक मजदूर से भी ऊंचा स्तर है। उसमें कोई उसे मजदूरी से वंचित करने के लिए नहीं कहता। किन्तु वह नैतिक परिपक्वता में यह स्वयं अनुभव करता है कि उसके कर्मों का फल केवल उसके अपने स्वार्थ के लिए ही न होकर यज्ञार्थ भाव से सारे समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए। अतः जब उसकी मानवता इस स्तर तक विकसित हो जाती है तब वह स्वेच्छा से अपने समस्त कर्मों का फल विश्व कल्याण के लिए समर्पित करने को प्रस्तुत हो जाता है। मानव की इस देवोपम त्याग भावना को शोषण कहना बुद्धि का दिवालियापन है। शोषण आततायी द्वारा अन्यायपूर्वक मजदूरी छीनकर किया जाता है। यज्ञार्थ समर्पण कर्ता की स्वेच्छा से उसके सहज आनन्द के साथ अपने सुख को अनेक लोगों में बांटकर अनेक गुणा आनन्दित होकर किया जाता है।

मजदूर मजे से दूर, कर्मयोगी आनन्द से भरपूर।

सच्चा धर्म मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बनाता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अकर्मण्य अर्जुन को शस्त्र उठाकर कर्म करने का उपदेश दिया। समर्थ स्वामी रामदासजी ने शिवाजी को, गुरु गोविन्द सिंह ने बंदा वैरागी को धर्मोपदेश से कर्मवीर बनाया। मध्यकालीन संतों में कुछ अकर्मण्यता का भाव आ गया था किन्तु वह धर्म का स्वस्थ रूप न होकर रुग्ण रूप ही था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म में श्रद्धा, विश्वास आदि का एक विशिष्ट स्थान है। किन्तु, समस्त धर्म को अंधविश्वासी कहना भी गलत है। हिन्दू धर्म का एक पुष्ट दार्शनिक आधार है जो इसे अन्य धर्मों से पृथक् एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। कक्षा के कुछ विद्यार्थियों के नालायक होने पर सबको मूर्ख मान लेना अन्याय है। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है—Hinduism is a open laboratory in dominion of the spirit. अर्थात् हिन्दू धर्म अध्यात्म क्षेत्र की खुली प्रयोगशाला है। ईसाइयत की प्रयोगशाला 1981 वर्ष पहले बंद हो चुकी है। बाइबिल के एक भी शब्द पर तर्क-वितर्क करने की अनुमति किसी ईसाई को नहीं है। धरती को गोल कहने वाले गैलिलियो को जीवन भर जेल में सताया गया। कोपरनिकस को डराया गया। Zeno को घर समेत जलाया गया। Bruno को चौराहे पर जीवित जलाया गया। सिर्फ इसलिए कि ईसाइयों का अंध-विश्वास धरती को चपटा मानता था। किन्तु भारत में वेद में ही भूमि को गोल मानते हुए भूगोल शब्द प्रयोग हुआ है। इससे सब धर्मों को अंध-विश्वास पर आधारित नहीं कहा जा सकता। मतिभ्रम का आक्षेप भी स्वस्थ, तर्कसम्मत धर्म पर लागू नहीं होता। इन्द्रियज्ञान से जो जड़ जगत् सत् प्रतीत होता है वह तीनों कालों में एकसमान न रहने वाला, विकारशील एवं विनाशी है। जो इसकी तीनों कालों में परिवर्तन एवं विनाश की लीला का साक्षी है वह चेतन तत्त्व ही सत्य है। यह विवेक द्वारा सिद्ध होता है। अत: मार्क्स की दृष्टि में जड़ जगत् सत् है, वह विवेक की दृष्टि से देखने पर असत् प्रमाणित होता है। इसी प्रकार ईश्वर या चेतन सत्ता को मार्क्स कल्पनामात्र मानता है, वह तर्क से सत् प्रमाणित होता है। यदि तर्क या बुद्धि स्थूल इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है तो मार्क्स स्वयं मतिभ्रमित प्रमाणित होता है क्योंकि वह सत् आत्मा को न मानकर स्थूल जड़ को ही सत् मान लेता है और सत् चेतन सत्ता को भ्रम मानता रहता है।

धर्म इतिहास का अनादर नहीं करता वरन् इतिहास निर्माण की प्रेरणा देता है। सम्राट् विक्रमादित्य ने उज्जैन में महाकाल के मन्दिर से प्रेरणा प्राप्तकर हूणों एवं शकों को देश से खदेड़ दिया। रामायण-महाभारत की गाथाएं सुनाकर जीजाबाई ने शिवाजी का ऐसा निर्माण किया कि वे महानतम इतिहास निर्माता बन गए। अपने पुरुषार्थ को करके भी अहंकार के भूत से बचने के लिए यदि कर्मवीर अपने कर्मों को भी भगवान् की कृपा मानता है तो उसमें उसकी महानता ही प्रकट होती है।

धर्म मानव के सच्चे स्वाभिमान को जगाता है। वह उसके भीतर के उस दैवीय तत्त्व या उसके भीतर के नारायण को जगा देता है जिससे असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। मानव इतिहास में धर्म की प्रेरणा से ही बड़े-बड़े त्याग, तपस्या, बलिदान एवं राष्ट्र निर्माण के कार्य हो सके हैं। यदि भगतसिंह, राजगुरु,

सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद, खुदीराम, सुभाष बोस आदि से धर्म की प्रेरणा छीन ली जाती तो वे कहां होते? धर्म ने ही महान् प्रेरणा बनकर मानव समाज को स्वाभिमान से जीना तथा स्वाधीनता के लिए लड़ना सिखाया है।

धर्म की विकृत रूढियों से मानव का कुछ पतन अवश्य होता है। किन्तु वह उसे सच्चा धर्मवीर बनाता है भीरु अथवा परमुखापेक्षी नहीं। अर्जुन, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, हर्ष, विक्रमादित्य, प्रताप, शिवाजी सभी धर्मवीर महापुरुष कभी भी भीरु नहीं थे।

जब सामाजिक जीवन में पाखण्ड होता है तो धार्मिक जीवन में भी पाखण्ड आ जाता है। किन्तु यह धर्म का विकृत रूप है, धर्म का स्वस्थ रूप नहीं। क्या धर्म का बल लेकर कर्म क्षेत्र में उतरने वाले राम-कृष्ण, मनु, याज्ञवल्क्य, कपिल, कणाद आदि पाखण्डी थे? क्या उनकी कथनी-करनी में अन्तर था?

धर्म को व्यवसाय बनाना भी धर्म का विकृत रूप है, स्वस्थ रूप नहीं। प्राय: सब धर्मों में तीन तत्त्व होते हैं—दार्शनिक दृष्टि, कथा-पुराण और कर्मकाण्ड। कथा पुराण में अतिशयोक्ति का मेल हो जाता है और कर्मकाण्ड धीरे-धीरे यांत्रिक-सा बन जाता है। किन्तु, धर्म का निर्मल रूप उसके दर्शन में ही मिलता है। वही धर्म का हार्द है। पोप लीला एवं पण्डागिरी एक विकृत रूढि है। बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य के धर्मप्रचार में यह व्यावसायिक पोप लीला नहीं थी।

धर्म नर के भीतर नारायण का दर्शन करता है। अत: वह सारी मानवता को जोड़ने वाला महान् सूत्र है। धर्म विभाजित नहीं करता वरन् मानव के स्वार्थ ही विभाजित कर देते हैं। जब धर्म में व्यवसाय वृत्ति एवं राजनीति आ जाती है तब धर्म—धर्म नहीं रहता।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढ़ां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्।।

महाभारत उद्योगपर्व, 33.60

जो दरिद्र धन चाहता हुआ भी परिश्रम से जी चुराता है और धनवान होता हुआ भी अधिकृत व्यक्तियों को धन नहीं देता दोनों दण्ड पाने के अधिकारी हैं। इन दोनों के गले में पत्थर बांध कर जल में डुबो देवें।

मार्क्स के भौतिकवादी इतिहास की आलोचना

(1) मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या की पुष्टि के लिए इतिहास की मनमानी व्याख्या की।

(2) मार्क्स यूरोप के दो-एक देशविशेष के इतिहास से अवगत था, सम्पूर्ण विश्व के इतिहास से नहीं। किसी भी एक देश का इतिहास सभी देशों पर लागू नहीं हो सकता।

सभी देश के लोगों की प्रकृति भिन्न-भिन्न होने के कारण और फिर सभी देशों की जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति, प्राकृतिक अवस्था भिन्न होने के कारण सभी देशों का इतिहास भिन्न-भिन्न है। सभी देशों पर एक ही इतिहास लादना मानवीय प्रकृति के साथ अन्याय है। सभी देशों का अपना-अपना इतिहास, अपनी भौगोलिक-प्राकृतिक परिस्थितियां, जलवायु, वहां के देशों की मानवीय प्रकृति की भिन्नता के कारण, भिन्न-भिन्न है।

जिस प्रकार से इतिहास का विभाजन मार्क्स ने किया है वह भारत पर एकदम लागू नहीं होता। भारत में कभी भी उस तरह की रक्त क्रान्ति नहीं हुई जैसी कि पश्चिम के देशों में हुई। भारत में हरिजनों को हजारों सालों से उचित व्यवहार नहीं मिला, सामाजिक सम्मान नहीं मिला। उन पर अत्याचार हुआ, जो कि नहीं होना चाहिए था। फिर भी उन्होंने कभी क्रान्ति नहीं की। कम्युनिस्टों के भड़काने से पूर्व तक। इसका कारण भारत का आध्यात्मिक भाव है। हमारा यह जन्म दुष्कर्मों का परिणाम है। भविष्य का जन्म हमारा स्वर्गीय होगा। यानी जिन देशों में आध्यात्मिकता की कमी है वहां ही रक्त क्रान्ति हुई है।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक इतिहास की व्याख्या में व्यक्ति के संकल्प का स्थान ही नहीं बचता। इसमें यांत्रिक ढंग से इतिहास की घटनाएं घटती हैं। इसमें व्यक्ति के स्वतंत्र दृढ़ संकल्प से इतिहास निर्माण का स्थान ही नहीं बचता। शिवाजी, राणाप्रताप, गुरु गोविन्दसिंह, बंदा वैरागी के संकल्प का स्थान नहीं बचता। व्यक्ति इतिहास का निर्माण करता है इसके लिए स्थान नहीं। व्यक्ति इतिहास में परिवर्तन कर सकता है इसकी कोई गुंजाइश ही नहीं बचती। लोग कह सकते हैं कि अभी

तो वाद का ही समय है, घोर कलिकाल का समय है, हिन्दुओं के पतन का समय है, इसमें परिवर्तन या उद्धार का कोई रास्ता नहीं है। क्योंकि इतिहास की घटनाएं यांत्रिक ढंग से घटित होती हैं। इसमें व्यक्ति के संकल्प के द्वारा परिवर्तन नहीं हो सकता। इतिहास की घटनाएं यात्रिक ढंग से और अनिवार्य रूप से घटित होती हैं।

इतिहास में Chances (अवसरों) का सबसे महत्त्वपूर्ण Role है जिसका स्थान द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में बचता नहीं। जैसे पृथ्वीराज ने एक बार मुहम्मद गोरी को क्षमा न कर उचित दण्ड दे दिया होता तो भारत का इतिहास ही कुछ दूसरा होता। किरणबाई अकबर को क्षमा नहीं करती तो इतिहास कुछ दूसरा होता। राणा प्रताप, शिवाजी आदि मुगलों से आहत हो जाते तो इतिहास ही कुछ दूसरा होता। अतः मार्क्स के इतिहास की व्याख्या में Chance का कोई स्थान ही नहीं बचता। मार्क्स के इतिहास की व्याख्या में भागवत इच्छा के लिए भी कोई स्थान नहीं बचता।

बिना चेतन सत्ता के वाद का प्रतिवाद उपस्थित नहीं हो सकता है। वाद (Thesis) एक विचार है, विचार को जाने बिना वाद (Thesis) की समस्त बुराइयों को प्रकट करने वाला विरोधी विचार कैसे उपस्थित हो सकता है? फिर वाद और प्रतिवाद में समन्वय कैसे हो सकता है? अतः बिना चेतन सत्ता के इतिहास की व्याख्या नहीं हो सकती। इतिहास की घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकती।

अतः मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की मनगढ़न्त कहानी गढ़ ली है। मार्क्स की भौतिकवादी इतिहास की व्याख्या से लगता है कि मानो मार्क्स इतिहास की घटनाओं का नियामक, प्रणेता या संचालक है जिसके अनुसार इतिहास की घटनाएँ घटती हैं।

वाद का विरोधी विचार प्रतिवाद होता है। दोनों में संघर्ष एवं समन्वय होता है। औरंगजेब का शासन, अकबर का शासन 'वाद', और राणा प्रताप और शिवाजी का आजीवन देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करना 'प्रतिवाद' हुआ। तब अकबर और राणा प्रताप के युद्ध से कौन-सा समन्वय हुआ, या हो सकता है—शिवाजी और औरंगजेब में 'समन्वय' हो सकता है या हुआ?

केवलाघो भवति केवलादी।

ऋग्वेद-संहिता 10/117/6

जो अकेला खाता है वह पापमय होता है।

आओ! शिष्य बनें

भारत विश्वगुरु था। इसकी परा-अपरा विद्या को प्राप्त करने धरती के कोने-कोने से जिज्ञासु-मुमुक्षु इस पुण्य-भूमि में शिष्य-भाव से आते थे। इसी भूमि से ज्ञान-दीप ले त्यागी-तपस्वी-विद्वान् साधक, आचार्य विदेशों में जाते और ज्ञान-प्रकाश से वहाँ की संस्कृति के अँधियारे को दूर करते थे। इन ज्ञान-वितरकों के प्रेरक ऋषि थे, आत्मज्ञान ही इनका बल था, प्रभुप्रेम ही इनकी गति थी।

कालान्तर में भीषण युद्ध हुए—गृहयुद्ध भी व बाह्य आक्रमण भी। फलतः भारत की क्षात्र-शक्ति निर्बल हुई, बुद्धि-शक्ति अरक्षित हुई, अर्थ-तन्त्र ध्वस्त हुआ, लोक-जीवन दमित व अस्त-व्यस्त हुआ। ऐसे जर्जरित राष्ट्र का परतन्त्र होना स्वाभाविक था। भारत का स्थूल कलेवर पराजित हुआ था, मन व आत्मा नहीं। इसके स्थूल कलेवर में भी स्वातन्त्र्य-रक्त अल्पांश में प्रवाहित होता रहा था। सत्संग-स्वाध्याय, पर्व-परिवार, तीर्थ-तीर्थाटन आदि सांस्कृतिक संस्थानों द्वारा यह भारतीय संस्कृति प्राणन करती रही, मरी नहीं। किन्तु भीषण अत्याचारों के कारण इसका आत्मगीत दिशा-दिशा में मुखरित नहीं हुआ। कुछेक विभूतियों ने आविर्भूत होकर इसके आत्म-दर्शन का उद्घोष किया, किन्तु उसका संचार इसके सर्वांग में न हो सका। दीर्घ परतन्त्रता के पश्चात् प्राप्त तथाकथित स्वतन्त्रता भी दिखावे की सिद्ध हुई। इसकी आत्मा अभी भी मुक्त साँसों के लिये छटपटाती है। इसके पूत अभी भी याचक हैं, उच्छिष्टभोजी हैं, अन्धानुकरण में रत हैं। इस आन्तरिक परतन्त्रता से मुक्त होना ही होगा, क्योंकि इस संस्कृति का स्वधर्म ही आत्मोन्मुखी है, ईश्वरोन्मुखी है। इसके स्वभाव में चारों वर्णों का सामरस्य है। अपने स्वभाव की विरुद्ध दिशा में बहना इसके लिये भयावह है। किन्तु यह अपनी स्वदिशा में गतिमान कैसे हो? कैसे यह अपने विश्वगुरु पद को प्राप्त करे?

यह संस्कृति अपने गौरवपूर्ण पद को प्राप्त कर सके—इसके लिये प्रत्येक भारतीय को अपने स्वधर्म को पहचानना होगा। उसको लेकर उसे अपनी संस्कृति से एक लय में रहते हुए स्वकर्म करना होगा। उस स्वकर्म से उसे जगद्गुरु की शिष्यभाव से अर्चना करनी होगी। यों शिष्यभाव की अनगिन धाराएँ मिल कर एक प्रबल पवित्र प्रवाह बनेगा और तब फिर यह संस्कृति विश्वगुरु रूपिणी गंगा होगी, सृष्टि-मूल के गोमुख को पूर्णानन्द उदधि से जोड़ने वाली, मानव मात्र को तारने वाली भागीरथी होगी।

आओ! शिष्य बनें।

स्वात्म-संस्कृति के उन्नयन के लिये भगीरथ-प्रयास करें।

—परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज